दैनिक जागरण

गुस्से में कभी कुछ न करें, क्योंकि तब हर चीज गलत होगी

अजब-गजब राजनीति

यह देखना दिलचस्प है कि आम चुनाव के लिए मतदान के दो चरण बीत जाने के बाद भी कांग्रेस महागठबंधन को आकार नहीं दे पा रही है। दिल्ली में आम आदमी पार्टी के साथ गठबंधन को लेकर कांग्रेस की दुविधा अभी तक कायम है। वह दिल्ली में तो आम आदमी पार्टी के साथ गठबंधन करने को तैयार है, लेकिन हरियाणा में नहीं। दूसरी ओर आम आदमी पार्टी हरियाणा में गठबंधन की शर्त पर ही दिल्ली में कांग्रेस से हाथ मिलाना चाह रही है। पता नहीं इन दोनों दलों में कोई तालमेल होगा या नहीं, लेकिन अगर होता भी है तो यह दोनों दलों के कार्यकर्ताओं के साथ-साथ उनके समर्थकों को असहज करने के साथ ही भ्रमित भी करेगा, क्योंकि आम आदमी पार्टी मूलतः कांग्रेस विरोध की ही उपज है। यह सही है कि कांग्रेस विरोध की राजनीति करने वाले कई दल आज उसके साथ खड़े हैं, लेकिन आम आदमी पार्टी की स्थिति इसलिए अलग है, क्योंकि उसकी ओर से पंजाब में कांग्रेस से समझौते की कोई बात नहीं की जा रही है। अगर कांग्रेस और आम आदमी पार्टी दिल्ली एवं हरियाणा में मिलकर चुनाव लड़ती हैं तो फिर वे पंजाब में एक-दूसरे का विरोध किस आधार पर करेंगी? निःसंदेह बीते कुछ समय से गठबंधन राजनीति के नाम पर अकल्पनीय गठजोड़ बनने लगे हैं और एक-दूसरे के प्रबल विरोधी दल भी समाज या फिर देशहित का बहाना बनाकर एक साथ खड़े होने लगे हैं, लेकिन इसका कोई मतलब नहीं राजनीतिक दल अपने स्वार्थ साधने के लिए जनता को जीती मक्खी निगलने के लिए कहें?

एक समय था जब समान राजनीतिक विचारधारा वाले दल एक साथ आते थे, फिर वे कुछ मुद्दों पर सहमति या फिर किसी न्यूनतम साझा कार्यक्रम के आधार पर एक साथ आने लगे। अब वे जुमले गढ़कर एक साथ आने की कोशिश करते दिख रहे हैं। ऐसा करके वे गठबंधन राजनीति को मौकापरस्ती का पर्याय बनाने में ही लगे हुए हैं। वे यह काम किस तरह बिना लोक-लाज के कर रहे हैं, इसका सटीक उदाहरण हैं भाजपा छोड़कर कांग्रेस में आए शत्रुघ्न सिन्हा। वह खुद पटना साहिब से कांग्रेस के प्रत्याशी बने और उनकी पत्नी पूनम सिन्हा समाजवादी पार्टी की लखनऊ से उम्मीदवार बन गईं। निःसंदेह कोई ऐसे तर्क दे सकता है कि यह जरूरी नहीं कि पति-पत्नी की राजनीतिक विचारधारा एक ही हो, लेकिन क्या यह भी तार्किक है कि शत्रुघ्न सिन्हा लखनऊ में कांग्रेस प्रत्याशी की आपत्ति के बीच पत्नी पूनम सिन्हा का प्रचार करने आएं तो अखिलेश यादव संग मायावती को भी प्रधानमंत्री पद का योग्य उम्मीदवार बताएं? क्या वह पटना साहिब में भी यही कहेंगे, जहां बसपा अपने बलबूते चुनाव लड़ रही है? आखिर यह हो क्या रहा है? यह गठबंधन राजनीति हो रही है या फिर जनता को पहेलियां बुझाई जा रही हैं? माना कि भारतीय राजनीति दिन-प्रतिदिन अवसरवादी और अनैतिक होती जा रही है, लेकिन क्या अब उसे जनता की आंखों में धूल झोंकने का भी अधिकार मिल गया है? चूंकि ऐसे सवालों का राजनीतिक दलों की ओर से कोई जवाब नहीं मिलना इसलिए आम जनता को ही यह देखना होगा कि घोर अवसरवादी और सिद्धांतहीन राजनीति से उसका पीछा कैसे छूटे?

चुनावी हिंसा

देशभर में लोकसभा चुनाव हो रहा है। दो चरणों के मतदान हो चुके हैं। प्रथम चरण में बंगाल के अलावा सिर्फ आंध्रप्रदेश में चुनावी हिंसा की खबर आई थी। दूसरे चरण में सभी राज्यों में चुनाव शांतिपूर्ण रहा, परंतु चुनावी हिंसा के लिए कुख्यात बंगाल में दूसरे चरण में भी स्थिति नहीं बदली। पहले चरण में जो हुआ उससे सीख लेकर चुनाव आयोग ने 80 फीसद बूथों पर केंद्रीय बल की तैनाती की थी। बावजूद इसके हिंसा नहीं रुकी। चोपड़ा एवं इस्लामपुर में जो कुछ हुआ वह नहीं होना चाहिए था। यही नहीं चुनाव के दिन जो गड़बड़ी हुई है वह तो हुई है। उसके बाद शुक्रवार को भाजपा एवं तृणमूल के बीच हुई झड़प एवं फायरिंग में कक्षा सात के एक छात्र के पांव में गोली लग गई। मतदान के दौरान और चुनाव के बाद भी कई इलाकों में तनाव है। यह क्या स्वस्थ्य लोकतंत्र के लिए सही है। जिस तरह से मतदाताओं की संख्या बढ़ी है उस अनुपात में पहले दो चरणों में मत प्रतिशत में बढ़ोतरी नहीं हुई। इसकी वजह साफ है कि जिस तरह से निर्बाध एवं शांतिपूर्ण मतदान होना चाहिए वैसा नहीं हो रहा है। लोगों को वोट डालने में व्यवधान डाला जा रहा है जिसकी वजह से संभवतः मतदान के लिए जिस अनुपात में लोगों को आगे आना चाहिए वैसे नहीं आ रहे हैं। इसके लिए कहीं न कहीं चुनाव आयोग कसूरवार है। जब आयोग को पता है कि बंगाल में चुनावी हिंसा, मतदान केंद्रों पर धांधली का पुराना इतिहास रहा है तो उस अनुसार बूथ के अंदर और बाहर सुरक्षा इंतजाम क्यों नहीं किए जा रहे हैं? क्यों वोटरों को डराने-धमकाने, मतदान केंद्रों में गड़बड़ी करने वालों के खिलाफ पहले से ही सख्त कदम उठाए जा रहे हैं? पहले चुनावी हिंसा के लिए बिहार काफी बदनाम था, लेकिन अब वहां शायद ही चुनावी हिंसा होती है। क्या उसी तरह से बंगाल में व्यवस्था कर हिंसा पर काबू नही पाया जा सकता है? इस पर चुनाव आयोग को गंभीरता से सोचने की जरूरत है। मतदान के दिन चोपड़ा में 150 से अधिक लोगों को सड़क जाम क्यों करना पड़ा? क्योंकि उन्हें वोट डालने से रोका जा रहा था।

राजनीति में गिरावट की कीमत चुकाता देश

जगमोहन सिंह राजपूत

देश के समक्ष अनेक समस्याएं हैं, जिन पर पक्ष-प्रतिपक्ष के आरोप-प्रत्यारोप ही सामने आते हैं। एक राष्ट्र पक्ष भी सामने आना चाहिए

पंचायत से लेकर संसद तक के चुनाव या उपचुनाव देश में कहीं न कहीं पूरे साल ही चलते रहते हैं। लोग यह भूल गए हैं कि हर पांच साल बाद केवल एक बार में ही हर स्तर के चुनाव संभव हैं और इससे जो समय, ऊर्जा तथा संसाधन बचेंगे उनका उपयोग देशहित में हो सकता है। तेलंगाना में विधानसभा चुनाव आम चुनावों के साथ होने थे। वहां के मुख्यमंत्री ने विधानसभा के चुनाव लोकसभा के चुनावों से पहले कराने में अपने लिए अधिक संभावनाएं देखीं और चुनाव पहले करा लिए। राजकीय कोष पर जो अतिरिक्त भार पड़ा, उस पर कोई सवाल उठाने का कोई प्रावधान ही नहीं है। इसी प्रकार कई बार लोग एक से अधिक जगहों से चुनाव लड़ते आए हैं। दोनों स्थानों से जीतने के बाद एक रिक्त करना पड़ता है, फिर उपचुनाव होता है उस पर जो व्यय/अपव्यय होता है उसकी न तो कोई जिम्मेवारी लेता है, न ही संविधान का कोई प्रावधान इसे रोकता है। इस प्रकार के सभी खर्चे उस करदाता के हिस्से में ही आते हैं जिसे लगातार समझाया जाता है कि अपना कर दायित्व समय से निभाते रहो, उसका उपयोग शिक्षा, स्वास्थ्य तथा विकास के लिए किया जाएगा। जब सामान्य नागरिक इस प्रकार के वैधानिक अपव्यय को देखता है तो उसे व्यवस्था के प्रति सम्मान बनाए रखने में कठिनाई होती है, उसका मनोबल भी प्रभावित होता है। अब संविधान के ऐसे प्रावधानों को हटाना या उनमें संशोधन करना तो उन्हीं का उत्तरदायित्व है जो इनका लाभ उठाते हैं।

कुछ महीने पहले लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराने पर चर्चा प्रारंभ हुई थी। चूंकि यह सुझाव सत्तापक्ष से आया था अतः विपक्ष को जोरदार विरोध तो करना ही था। उन्होंने किया और चर्चा किसी भी सार्थक निष्कर्ष के बिना ही समाप्त हो गई। प्रजातंत्र का अर्थ अधिकांश नेताओं ने पक्ष-विपक्ष और समर्थन-विरोध तक सीमित कर दिया है। उनका मस्तिष्क चुनाव और सत्ता पर अर्जुन के लक्ष्य की तरह केंद्रित हो गया है। उनके लिए राष्ट्ररूपी वृक्ष पर सत्ता का फल लगा है और लक्ष्य केवल इस फल तक पहुंचना ही रह गया है। केवल फल चाहिए, वृक्ष की देखभाल और खाद-पानी से उन्हें कोई लेना-देना नहीं है।

15 अगस्त, 1947 को सत्ता मुख्य रूप से उनके हाथों में आई थी जिनके त्याग और तपस्या से लोग परिचित थे, जिन्होंने अपरिग्रह का अर्थ समझा था, सिद्धांतों और मूल्यों को जिया था। 'अपवाद छोड़कर' उन लोगों के लिए देश सर्वोपरि था। जैसे-जैस सत्ता से लाभ कमाने की संभावनाएं उजागर हुईं, पीढ़ियां बदलीं, जनसेवा का स्थान गौण हो गया और व्यक्ति, परिवार तथा वंश प्राथमिकता पर आ गए। तब से लेकर अब तक देश ने बेशक प्रगति और विकास में महत्वपूर्ण लक्ष्य प्राप्त किए, मगर मानवीय और नैतिक मूल्यों का क्षरण हर तरफ दिखाई देने लगा। समाज का वह वर्ग जो गांधी जी के शब्दों में पंक्ति के अंतिम छोर पर खड़ा था, बमुश्किल कुछ कदम ही आगे बढ़ पाया। करोड़ों लोगों को भुखमरी, गरीबी और बीमारी से निजात नहीं मिल पाई है। आम चुनाव के समय तो मुख्य रूप से इस वर्ग के लिए किए गए कल्याणकारी कार्यों का विश्लेषण होना चाहिए। अगले पांच वर्ष उन्हें कैसे गति प्रदान की जाए, इस पर चर्चा होनी चाहिए। इस चर्चा में पक्ष-विपक्ष के लोग एक साथ बैठ कर विश्लेषण करें और प्राथमिकताएं निर्धारित करें। लोग स्वयं निर्धारित करें कि कौन अधिक कर्मठता और सेवा भाव से योजनाओं को आगे बढ़ा सकेगा और फिर निर्णय लें। यह असंभव नहीं है और प्रजातंत्र में इसकी मनाही भी नहीं है। केवल सक्षम और दूरदर्शी व्यक्तियों के आगे आने और प्रेरणा देने की जरूरत है।

अमेरिका में राष्ट्रपति पद के प्रत्याशियों के बीच जो बहस टीवी पर होती है उसका चुनावों पर भारी प्रभाव पड़ता है। ऐसी बहसें यदि यहां भी आयोजित होने लगें तो शायद शालीनता और भाषा के स्तर में लगातार होती जा रही गिरावट भी रुक सकेगी। कनाडा के प्रसिद्ध शिक्षाविद माइकल फुलान ने लिखा था, 'परिवर्तन हर तरफ है, मगर प्रगति हर ओर नहीं है।' इसके बाद उन्होंने यह भी जोड़ा था कि हर परिवर्तन प्रगति का द्योतक नहीं होता। भारत में हुए परिवर्तन को आज विश्व सराह रहा है, मगर यह भी माना जा रहा कि बहुत कुछ जो किया जा सकता था, नहीं हो पाया है। यदि भ्रष्टाचार, घोटाले और सदाचार से दूरी न बढ़ी होती तो शायद आज देश में कोई भी गरीब नहीं होता, न गरीब के नाम पर अनेक चुनावों में बेशर्मी से राजनीति होती रहती। जिन युवाओं ने पहली बार गरीबी हटाओ का नारा सुना था, वे अब बूढ़े हो गए हैं। उनकी आगे की पीढ़ी फिर उस नारे को सुन रही है। देश में राजनीति का जो स्वरूप उभरा है और प्रजातंत्र के मूल्य में जो गिरावट आई है उसका दंश हर व्यक्ति किसी न किसी रूप में झेल रहा है।

इस बार 17वीं बार लोकसभा चुनी जाएगी। आजादी के बाद की पीढ़ी के नेताओं और दलों में जनतंत्र के मूल सिद्धांतों के प्रति आस्था बढ़नी अपेक्षित थी। अपवादों को छोड़ दें तो ऐसा नेतृत्व विकसित नहीं हो पाया। चुनाव आयोग द्वारा निर्धारित चुनाव खर्च की सीमा के अंदर कितने लोग चुनाव लड़ पाते हैं, लेकिन हिसाब सभी सीमा के अंदर का ही देते हैं। क्या यह अजूबा नहीं है? कहते हैं कुछ लोगों की उम्र बढ़ाती रहती है, मगर वे विरले ही होते हैं जो बड़े भी होते जाते हैं। कुछ ज्ञान और उसके सदुपयोग में आगे बढ़ते हुए बड़े बनते हैं, कुछ केवल उम्र दराज होते जाते हैं। प्रसिद्ध विचारक नानी पालखीवाला ने अपने एक भाषण में कहा था कि बोझा ढोने वाले पशु के ऊपर यदि स्वर्ण भंडार लाद दिया जाए तो भी उसे कोई फर्क नहीं पड़ेगा, वह वैसे ही चलेगा जैसे मिट्टी या अन्य कोई भार लेकर चलता है। उसके लिए तो हरी घास और उसे खाने के आनंद से बढ़कर कुछ नहीं हैं। जो मूल्य स्वतंत्रता संग्राम के समय देश ने स्वीकार किए थे वे उस स्वर्ण भंडार जैसे थे जो जनप्रतिनिधियों को सौंपा गया था। वे इसका महत्व समझ नहीं पाए। वे सत्ता के मद और धनसंग्रह में ही खो गए। सत्ता चाहिए और कैसे भी चाहिए। चुनाव जीतने के लिए जातिगत राजनीति को बढ़ावा देने में कितने ही दल पूरा जोर लगा रहे हैं।

देश में आज वोट बैंक की राजनीति एक कड़वी सच्चाई है और इसे समाप्त करने के सारे प्रयास नाकाम हैं। इसके अलावा भी देश के समक्ष अनेक समस्याएं हैं जिन पर पक्ष-प्रतिपक्ष के आरोप-प्रत्यारोप ही सामने आते हैं। एक राष्ट्र पक्ष भी सामने आना चाहिए। प्रजातंत्र में जनता और उसकी प्रतिनिधि विधायिका सर्वशक्तिमान है। देश को भुखमरी, गरीबी और बीमारी से राहत चाहिए। किसानों-मजदूरों को अपने अधिकार चाहिए। उन्हें निचले स्तर पर सर्वव्यापी भ्रष्टाचार से निजात चाहिए। देश को ज्ञान, विज्ञान तथा तकनीकी विशेषज्ञ चाहिए, विद्वत वर्ग चाहिए, जनसेवा करने वाले भी चाहिए। दलगत राजनीति से अलग रहकर देशहित में सोचने वाले और कार्य करनेवाले भी चाहिए। इनको बढ़ाने के लिए संस्थान चाहिए। उन्हें स्वायत्तता चाहिए। वहीं से देशहित की योजनाएं प्रस्फुटित होनी चाहिए।

(लेखक एनसीईआरटी के पूर्व निदेशक हैं)

response@jagran.com

विकास की दौड़ में पिछड़ते गांव

डॉ. अनिल प्रकाश जोशी

आज अगर करीब 67 फीसद आबादी गांवों में रहती है तो जाहिर है कि वहां के ही मत तय करेंगे कि देश का नेतृत्व कौन करेगा?

हमारे गांव देशवासियों का पेट भरने के साथ ही देश की राजनीति की दिशा भी तय कर रहे हैं। गांवों के वोट शहरों की तुलना में हमेशा से ज्यादा ही रहे हैं। ऐसे में जिस दल ने उनका झुकाव अपनी तरफ कर लिया उसी के सिर पर सत्ता का ताज भी सजा। पहले धनबल, बाहुबल एवं तमाम तरह के लालच ग्रामीण मतदाताओं को काफी हद तक दिशाहीन करते रहे। वहां जात-पांत के बोलबाले के अलावा प्रचार-प्रसार की भी एक बड़ी भूमिका दिखती रही, परंतु पिछले कुछ समय से वहां एक बड़ा परिवर्तन दिखाई दे रहा है। पहले गांव राजनीति में मूकदर्शक की भूमिका में थे। राजनीतिक दलों ने उन्हें निष्क्रिय मतदाता से ज्यादा कुछ नहीं समझा, पर अब वे भी सक्रिय हो रहे हैं और समझदारी का परिचय देते हुए सवाल खड़े कर रहे हैं। उन्होंने अपनी उपेक्षा करने वालों को हाल के वर्षों में झटके भी दिए हैं। इसे भारतीय लोकतंत्र में आए एक अच्छे परिवर्तन की तरह देखा जाना चाहिए। भारत को गांवों का देश कहा जाता है। आज अगर करीब 67 फीसद आबादी गांवों में रहती है तो जाहिर है कि वहां के ही मत तय करेंगे कि देश का नेतृत्व कौन करेगा? यह भी उल्लेखनीय है कि शहरों में मतदान का आंकड़ा भी गांवों के मुकाबले कम रहता है।

हाल में पांच राज्यों के विधानसभा चुनाव में ग्रामीण मतदान प्रतिशत शहरों की अपेक्षा 5.5 फीसद ज्यादा रहा। गांवों ने चुनाव में जमकर भागीदारी की और जता दिया कि उनकी अनदेखी दलों को महंगी पड़ सकती है। पांच राज्यों के चुनावों में विकास के प्रदर्शन को गांवों ने सटीक तरह से जांचा भी। मसलन मध्य प्रदेश एवं राजस्थान में भाजपा और कांग्रेस के मतों में ज्यादा अंतर नहीं था। मतलब साफ था कि इन दोनों राज्यों की सरकारों ने गांवों के लिए कुछ तो किया था, पर वह अपर्याप्त था। चूंकि छत्तीसगढ़ में लोग सरकार से नाराज थे इसलिए वह वोटों के रूप में दिखी। यह नाराजगी गांवों की उपेक्षा के मसले पर अधिक थी। ऐसे निर्णय लोकतंत्र के लिए शुभ संकेत हैं। अगर पिछले दो दशक के आंकड़ों को देख लें तो पाएंगे कि ग्रामीण मतदाताओं में अपने माताधिकार के प्रति जागरूकता ही नहीं बढ़ी है, बल्कि वे सही निर्णय लेने में भी सक्षम रहे हैं। इसमें दोराय नहीं कि आज देश की राजनीति के स्तर में भारी गिरावट देखी जा रही है। इसे दोबारा पटरी पर लाने का काम किसी सुधारवादी आंदोलन से संभव नहीं है, बल्कि जनजागरूकता और मुद्दों की राजनीति को बढ़ावा देकर ही इसमें सुधार लाया जा सकता है। यह तभी संभव होगा जब सभी दलों को आभास हो जाए कि उनकी जीत जात-पांत या फिर भावनात्मक मसलों पर नहीं होगी। गांवों के मतों को बटोरने के लिए स्पष्ट है कि ग्रामीण समाज को और अधिक जागरूकता का परिचय देना होगा। यह इसलिए भी जरूरी है, क्योंकि हमारे विकास के मानक शहरों के चारों तरफ ही घूमते रहे हैं। हमने स्वतंत्र भारत को शहरी ढांचे में फिट करने तक की ही सोच तय की। इससे एक तो शहर विकास का केंद्र बने और दूसरे, इसके सुख ने गांवों को भी खाली करना शुरू किया। जहां एक समय 90 फीसद लोग गांवों में रहते थे वहीं अब घट कर 67 फीसद ही बचे हैं, क्योंकि देश के गांव आज भी आधारभूत सुविधाओं से वंचित हैं। चूंकि गांव शिक्षा, स्वास्थ्य जैसे आवश्यक विषयों पर अलग-थलग पड़ गए इसलिए गांवों की नई पीढ़ी ने शहरी ठिकानों एवं सुख-सुविधाओं के लिए गांव त्याग दिए।

हम विकास की दौड़ में गांवों को भी भूल गए। हम इस समझ से परे हो गए कि गांवों का बना और बचा रहना देश के लिए सबसे महत्वपूर्ण है। आज भी देश की आर्थिकी का बड़ा हिस्सा गांवों के उत्पादों से जुड़ा है। हम किसी भी बाजारी वस्तु की उत्पादकता को गांवों से सीधे जोड़ सकते हैं-चाहे वे खाद्य पदार्थ हों या अन्य कच्चा माल, इनकी आपूर्ति गांवों से ही होती है। इनसे जुड़ा श्रम भी गांवों से ही आता है। असल में शहर गांवों के उत्पादों के प्रबंधक के रूप में खड़े हुए जिसमें श्रम कम और लाभ ज्यादा था। ज्यादा लाभ के चलते शहरों में सुविधाओं की भी होड़ लगी और इस तरह शहर बेहतर जीवनशैली का द्योतक बने और रहने के अड्डे भी। इसी शैली ने ग्रामीणों को आकर्षित किया और फिर पलायन के विकार ने पैर पसारे। इस ट्रेंड ने दो बड़ी चोट की। एक, जहां गांवों में हर तरह की उत्पादकता पर प्रतिकूल असर पड़ा वहीं दूसरी तरफ शहरों में बढ़ती भीड़ ने आबादी विस्फोट एवं बेरोजगारी जैसे सवाल भी खड़े कर दिए। ये दोनों ही विषय गांवों से हो रहे पलायन से संदर्भित हैं। साथ में हवा, पानी, जमीन के नए झगड़े भी इसी मुद्दे से जुड़े हैं। साफ है कि गांवों की अनदेखी आर्थिक पारिस्थितिकी एवं सामाजिक असंतुलन को जन्म दे रही है। ऐसे में गांवों पर केंद्रित विकास ही समानता पैदा कर सकता है। यह नारा कि जो गांवों की बात करेगा वही देश में राज करेगा, आज के परिपेक्ष्य में सटीक है। देश सिर्फ शहरों से ही नहीं, गांवों के विकास से भी सशक्त होगा।

(लेखक पर्यावरण मामलों के जानकार हैं)

response@jagran.com

तथ्य-कथ्य | कहां कितने मतदाता

राष्ट्रपति/संसदीय चुनावों में सबसे अधिक मतदाता वाले प्रमुख देश

(संख्या करोड़ में)

स्रोत: स्टैटिस्टा

ऊर्जा

ईश्वर और समर्पण

जीवन में हमें जो कुछ मिला है, वस्तुतः वह हमारे किए हुए कर्मों का फल होता है, परंतु जब हम उसे प्रभु का दिया हुआ प्रसाद मानकर ग्रहण करते हैं तो बात कुछ और होती है। हमारा हर कर्म पूजा बन जाता है। यही बात भोजन के संदर्भ में भी लागू हो सकती है। कोई चीज जब हम खाने से पहले भगवान को चढ़ाकर यानी अर्पित करके खाते हैं तो वह भोजन भी प्रसाद बन जाता है। इसलिए जो भगवान के भक्त होते हैं, वे भोजन से पहले कहते हैं-हे प्रभु, तुम्हारी दी हुई वस्तु पहले मैं तुम्हें समर्पित करता हूं और भला वे ऐसा क्यों न करें, क्योंकि हमें इस मानव योनि में सशरीर जो भी मिला है-वह उसका दिया हुआ ही तो है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि कोई भक्त यदि प्रेमपूर्वक मुझे फल-फूल, अन्न, जल आदि अर्पित करता है तो उसे मैं प्रेमपूर्वक सगुण रूप में प्रकट होकर ग्रहण करता हूं। भक्त की यदि भावना सच्ची हो, श्रद्धा और आस्था प्रबल हो तो भगवान उसके भोजन को अवश्य ग्रहण करते हैं। जैसे उन्होंने शबरी के बेर खाए, सुदामा के तंदुल (चावल) खाए, विदुरानी का साग खाया। मीराबाई विष का प्याला स्वयं पी गईं।

प्रभु की कृपा महान है। उसकी कृपा से जो कुछ भी अन्न-जल हमें प्राप्त होता है-उसे प्रभु का प्रसाद मानकर प्रभु को अर्पित करना, कृतज्ञता प्रकट करने के साथ एक मानवीय गुण भी है। कुछ लोग यह प्रश्न भी करते हैं कि जब भगवान चढ़ाया हुआ प्रसाद खाते हैं तो घटता क्यों नहीं? उनका कथन भी सत्य है। जिस प्रकार फूलों पर भ्रमर (भौंरा) बैठता है और फूल की सुगंध से तृप्त हो जाता है, किंतु फूल का वजन नहीं घटता। उसी प्रकार प्रभु को चढ़ाया प्रसाद अमृत होता है। प्रभु व्यंजन की सुगंध और भक्त के प्रेम से तृप्त हो जाते हैं। वे भाव के भूखे हैं, भोजन के नहीं। जैसे एक मां बच्चे को कुछ खाने को दे और बच्चा उसे तोतली भाषा में सिर्फ पूछ भर दे तो मां उसे सीने से लगा लेती है। इसी प्रकार भगवान भी तृप्त होते हैं, प्रसन्न होते हैं और अपनी कृपा बरसाते हैं। यह मानव शरीर भी उसकी अनंत कृपा से प्रसाद स्वरूप मिला है-इसकी सार्थकता को समझें, तभी जीवन धन्य होगा।

आचार्य अनिल वत्स

सीबीएसई की नई पहल

देवेंद्रराज सुथार

आधुनिक शिक्षा पद्धति में अंकों की प्रतिस्पर्धा ने छात्र-छात्राओं की रचनात्मक क्षमता को दरकिनार कर दिया है

हाल ही में केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड (सीबीएसई) ने बच्चों के मानसिक और संवेदनात्मक स्वास्थ्य तथा सृजनात्मक और रचनात्मक विकास को ध्यान में रखते हुए दो महत्वपूर्ण निर्णय लिए हैं। पहला, कक्षा 1 से 8वीं तक के बच्चों को स्वास्थ्य एवं शारीरिक शिक्षा के जरिए खेलों से जोड़ना। दूसरा, कक्षा 1 से 12वीं तक कला शिक्षा को अनिवार्य रूप से स्कूलों में पढ़ाना। गौरतलब है कि 9 मार्च को जारी सीबीएसई की नई अधिसूचना के मुताबिक वर्ष 2019-20 से शुरू होने वाली नई कक्षाओं में पहली से 8वीं कक्षा के सभी बच्चों को रोजाना कम से कम एक क्लास स्वास्थ्य एवं शारीरिक शिक्षा के लिए दिया जाएगा। वहीं शैक्षणिक सत्र 2019-20 से सीबीएसई के सभी संबद्ध स्कूलों में कला शिक्षा के लिए अनिवार्य रूप से प्रति सप्ताह कक्षा में न्यूनतम दो कक्षाएं संचालित की जाएंगी। ये कक्षाएं दृश्य और श्रव्य दोनों माध्यमों में संचालित होंगी। इसके तहत चार विधाओं जैसे संगीत, नृत्य, विजुअल आर्ट और रंगमंच को शामिल किया जा सकेगा।

निःसंदेह इस नई पहल से छात्रों में पढ़ाई का तनाव कम होगा और उनमें किताबी ज्ञान से हटकर भी कुछ नया सोचने, समझने एवं करने की रुचि विकसित होगी। जहां शारीरिक एवं स्वास्थ्य शिक्षा के माध्यम से बच्चों की सेहत पर ध्यान जाएगा, वे खेल के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा को निखार पाएंगे। महत्वपूर्ण बात यह है कि शारीरिक एवं स्वास्थ्य शिक्षा की अनिवार्यता के बाद इससे छात्रों की शारीरिक दुर्बलताएं दूर हो सकेंगी।

अमेरिका की न्यू इंग्लैंड जर्नल ऑफ मेडिसिन की स्टडी बताती है कि भारत में 1.44 करोड़ बच्चे ओवरवेट यानी सामान्य से मोटे हैं। वहीं कला शिक्षा के माध्यम से बच्चों में मौलिकता, सृजनात्मकता एवं रचनात्मक का विकास होगा। खासकर जिन बच्चों का पढ़ाई में मन नहीं लगता वे कला के क्षेत्र में अपना करियर बनाने के प्रति उन्मुख होंगे। दरअसल बाकी विषयों की अपेक्षा कला शिक्षा तथा शारीरिक व स्वास्थ्य शिक्षा जैसे विषयों की प्रकृति सरल, सहज और व्यावहारिक होने के कारण इन्हें पढ़ना, समझना और अनुभव करना छात्रों के लिए बेहद आसान होता है।

आधुनिक शिक्षा पद्धति में अंकों को अर्जित करने की प्रतिस्पर्धा ने छात्र-छात्राओं की मौलिक सृजनशक्ति एवं रचनात्मक क्षमता को दरकिनार कर दिया है। यह भूला दिया गया है कि बालक-बालिकाओं के तीव्र विकास के लिए मस्तिष्क को विभिन्न तरीकों से विकसित करने की आवश्यकता होती है। विज्ञानक शोध भी सुझाते हैं कि कोई कला अनुभव मस्तिष्क एवं शरीर को पूर्ण रूप से क्रियाशील बनाने में योगदान देता है। ऐसा इसलिए, क्योंकि इसमें प्रत्येक बच्चे को बौद्धिक, सामाजिक, भावनात्मक एवं शारीरिक रूप से संलग्न करने की क्षमता होती है। ऐसे समय में यह पहल बच्चों को अपनी जिंदगी खुलकर जीने, अपनी इच्छानुसार करियर बनाने एवं बोझ बनती पढ़ाई से राहत प्रदान करेगी। आवश्यकता है कि सीबीएसई की तर्ज पर राज्यों के सरकारी एवं गैर सरकारी स्कूलों में भी कला शिक्षा तथा शारीरिक एवं स्वास्थ्य शिक्षा को पाठ्यक्रम का अनिवार्य हिस्सा बनाने की कवायद की जाए।

(लेखक स्वतंत्र टिप्पणीकार हैं)

मेलबाक्स

मुस्लिम समाज का अधूरा सच

रामिश सिद्दीकी ने अपने आलेख 'वोट बैंक की छवि में कैद मुस्लिम समाज' में मुस्लिम वर्ग की वोट बैंक में कैद रहने वाली जो तस्वीर पेश की है, वह मुस्लिम समाज का अधूरा सच है। पूर्ण सत्य यह है कि इंटरनेट और मीडिया के व्यापक प्रभाव से जागरूक होने वाले मुस्लिम समाज की सोच भी अब बदल रही है। आज मुस्लिम वर्ग में दो तरह के लोग हैं। एक वे जो बहुत बड़े आलिम होने के बाद भी अपनी मजहबी सोच से बंधे हुए हैं और दूसरे वे जो थोड़ा सा पढ़-लिख कर अपनी मुट्ठी में बंद मोबाइल के माध्यम से देश-दुनिया को समझने की कोशिश में लगे हुए हैं। मोदी सरकार ने मुस्लिम महिलाओं के उत्पीड़न से जुड़े तत्काल तीन तलाक को आपराधिक कृत्य बनाकर पीड़ित मुस्लिम महिलाओं को बहुत बड़ी राहत प्रदान की है। ऐसे में अपने मजहबी दायरे में कैद मुसलमान तो केंद्र सरकार के इस सकारात्मक कदम का विरोध कर सकता है, लेकिन तार्किक आधार पर अपनी जिंदगी के फैसले लेने वाला मुस्लिम वर्ग तीन तलाक जैसे अमानवीय रिवाज को गलत मानकर मोदी सरकार के इस फैसले के साथ खड़ा दिखाई देगा। अतः यह मान लेना कि समूचा मुस्लिम समाज भाजपा विरोधी है, एक अधूरा सच है। वस्तुतः अब सामयिक परिवर्तन के साथ मुस्लिम समाज की अवधारणाएं बदल रही हैं। आज यदि एएमयू के शोध-छात्र मन्नान वानी या वुरहान वानी जैसे ब्रेन वॉश किए गए आतंकवादी युवाओं को अपवाद मानकर दरकिनार कर दें तो अब अधिसंख्य मुस्लिम युवा मजहबी कट्टरता के दायरे से बाहर निकलकर देश-दुनिया के विकास के साथ कदमताल करता दिखाई दे रहा है। यह परिवर्तन देश के मुस्लिम वर्ग को वोट बैंक मानने वाले सपा, बसपा और कांग्रेस जैसे राजनीतिक दलों की जड़ों को कमजोर करने वाला है। 2014 के आम चुनाव का परिणाम इसका साक्षी है, जिसमें मुस्लिम वोट बैंक के भरोसे अपनी राजनीति चलाने वाला विपक्ष धराशायी हो गया था। विपक्ष की इस दुर्गति में मुस्लिम समाज के बदलते मिजाज का बहुत बड़ा योगदान है। जिसका असर 2019 के आम चुनाव में भी दिखाई दे रहा है।

डॉ. वीपी पाण्डेय, अलीगढ़

आरक्षण का आधार

आखिर आरक्षण का आधार क्या होना चाहिए? सामाजिक या आर्थिक या दोनों। आज से कुछ दशक पहले आरक्षण का सामाजिक आधार उचित था, क्योंकि उस समय सामाजिक विषमताएं ज्यादा थीं, परंतु आज की स्थिति एकदम उलट है। आज सामाजिक विषमताएं कम, आर्थिक विषमता ज्यादा है। अमीरी और गरीबी में कुछ ज्यादा ही अंतर हो गया है। आज हर तरफ से आरक्षण की मांग उठ रही है, कही से मजहब के नाम पर तो कही से जाति के नाम पर। संविधान में दस वर्ष के लिए जो आरक्षण की छूट पिछड़े वर्गों को शेष समाज के बराबर लाने के लिए दिया गया था, उसे बाद में स्थाई बना दिया गया और समाज को इसके फायदे के साथ कुछ नुकसान भी हुआ। उन पिछड़े लोगों में भी एक अभिजात्य वर्ग का जन्म हो गया। नतीजा यह हुआ कि उसी वर्ग में कुछ परिवार अधिक संपन्न हो गए और बाकी सब और गरीब होते चले गए। यह सब जानते हैं कि आरक्षण का अधिकतर लाभ उसे मिलता है जिसे उसकी जरूरत नहीं है। दलित एवं पिछड़े वर्ग में अनेक नेता वैभवशाली हैं। क्या उनको आरक्षण देना उचित है? क्या ये सारे नेता समाज की मुख्यधारा में नहीं हैं? दूसरी बात आरक्षण का लाभ कहां-कहां मिलना चाहिए। किसी को मेडिकल या इंजीनियरिंग या किसी और कोर्स में दाखिले समय आरक्षण मिलता है तो क्या उसे उसी डिग्री के आधार पर नौकरी में भी आरक्षण देना उचित है। क्या यह हमारी शिक्षा व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह नहीं है कि हम पांच साल की उच्च शिक्षा के बाद भी उसे आरक्षण के लोभ से बाहर नहीं निकाल पाए या फिर बिना आरक्षण के आगे बढ़ने के लायक नहीं बना सके तो फिर उस उच्चशिक्षा का क्या मतलब ?

संजय कौशिक, फरीदाबाद

पार न करें लक्ष्मण रेखा

लोकसभा चुनाव के इस बक-झक वाले माहौल में निश्चित ही यह दिल को सुकून देने वाली खबर है कि अस्पताल में भर्ती चोट ग्रस्त कांग्रेसी नेता शशि थरूर का हाल चाल पूछने रक्षा मंत्री निर्मला सीतारमण अस्पताल गईं। आज अपशब्दों के विष से सने हुए बाण चल रहे हैं। ऐसे में मरुस्थल में प्यास के मारे पथिक के लिए खुशी की खबर है। चुनाव लड़ें, एक दूसरे का विरोध भी करें, पर